



DAILY NEWS BULLETIN

LEADING HEALTH, POPULATION AND FAMILY WELFARE STORIES OF THE DAY
Friday 20190802

ब्रेस्टफीडिंग

देश में 40 फीसदी नवजातों को जन्म के पहले घंटे के अंदर नहीं मिल रहा मां का दूध (Dainik Bhaskar:20190802)

<https://www.bhaskar.com/health/healthy-life/news/world-breastfeeding-week-2019-myths-and-benefits-and-why-newborn-dying-rate-is-increasing-01607417.html>





दुनिया में ब्रेस्टफीडिंग न होने से हर साल 8 लाख मौतें, इनमें सबसे ज्यादा 6 महीने से कम के बच्चे शामिल

डब्ल्यूएचओ के मुताबिक, भारत समेत कई देशों में पाउडर मिल्क का अधिक प्रचार शिशुओं से दूर कर रहा मां का दूध





विश्व स्तनपान सप्ताह



ब्रेस्टफीडिंग कितना जरूरी

मां के लिए

-  रोजाना 500 कैलोरी बर्न करता है
-  हृदय रोग और डायबिटीज की आशंका कम हो जाती है
-  ब्रेस्ट और ओवेरियन कैंसर का खतरा घटता है
-  दूसरी महिलाओं के मुकाबले डिप्रेशन का स्तर कम

शिशु के लिए

-  मां के दूध में हर जरूरी पोषक तत्व
-  यह आसानी से पचता है और पेट में गैस नहीं बनती है
-  दूध में एंटीबॉडी के कारण संक्रामक बीमारियों का खतरा कम
-  ब्रेस्टफीड से अचानक होने वाली मौत की आशंका घटती है



हेल्थ डेस्क. विश्व स्वास्थ्य संगठन के मुताबिक दुनिया में हर पांच में से तीन नवजातों को जन्म के पहले घंटे में मां का पहला पीला दूध नहीं मिल पा रहा है। भारत में यह आंकड़ा 40 फीसदी है। दुनिया में हर साल 8 लाख मौतें सिर्फ ब्रेस्टफीडिंग न होने के कारण हो रही हैं। इनमें सबसे ज्यादा 6 महीने से कम के बच्चे शामिल हैं। ऐसे मामलों में कमी लाने के लिए डब्ल्यूएचओ और यूनिसेफ हर साल 120 देशों के साथ 1-7 अगस्त तक स्तनपान सप्ताह मनाता है। स्तनपान में लापरवाही और अधूरी जानकारी मां और बच्चे की जान जोखिम में डालने वाली हैं, पढ़िए रिपोर्ट-

क्यों नवजात तक नहीं पहुंच रहा मां का दूध

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने नवजात और मां के दूध के बीच बढ़ती दूरी के कई कारण गिनाए हैं। डब्ल्यूएचओ और यूनिसेफ की संयुक्त रिपोर्ट के मुताबिक, ज्यादातर मामले निचले और मध्यम आमदनी वाले देशों में सामने आ रहे हैं। दूसरी सबसे बड़ी वजह भारत समेत कई देशों में फार्मा कंपनियों का ब्रेस्टमिल्क सब्सटीट्यूट का आक्रामक प्रचार करना भी है।

स्तनपान क्यों है मां और बच्चे का सुरक्षाकवच

स्त्री रोग विशेषज्ञ डॉ मीता चतुर्वेदी के मुताबिक, नवजात के जन्म के तुरंत बाद निकलने वाला मां का पहला पीता दूध कोलोस्ट्रम कहलाता है। इसमें प्रोटीन, फैट, कार्बोहाइड्रेट और कैल्शियम अधिक मात्रा में पाया जाता है। यह नवजात की रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाकर संक्रमण से बचाता है।

स्तनपान मां में ब्रेस्ट-ओवेरियन कैंसर, टाइप-2 डायबिटीज और हृदय रोगों का खतरा घटाता है। ब्रेस्ट कैंसर से होने वाली 20 हजारों मौतों सिर्फ बच्चे को स्तनपान कराकर ही रोकी जा सकती हैं।

ज्यादा ब्रेस्ट फीडिंग कराने से मां की कैलोरी अधिक बर्न होती है, जो डिलीवरी के बाद बढ़ा हुआ वजन कम करने में मदद करता है। इस दौरान मांओं के शरीर से ऑक्सीटोसिन निकलता है, जिससे उनका तनाव भी कम होता है।

कब, कैसे और कितना पिलाएं मां का दूध

डब्ल्यूएचओ के मुताबिक, बच्चे जन्म के पहले घंटे से लेकर 6 माह की उम्र तक स्तनपान कराना चाहिए। 6 महीने के बाद बच्चे के खानपान में दाल का पानी और केला जैसी चीजें शामिल करनी चाहिए। उसे दो साल तक दूध पिलाया जा सकता है।

स्त्री रोग विशेषज्ञ के मुताबिक, मां को एक स्तन से 10-15 मिनट तक दूध पिलाना चाहिए। शुरुआत के तीन-चार दिन तक बच्चे को कई बार स्तनपान कराना चाहिए क्योंकि इस दौरान दूध अधिक बनता है और यह उसके लिए बेहद जरूरी है।

ब्रेस्टफीडिंग के दौरान साफ-सफाई का अधिक ध्यान रखें। शांत और आराम की अवस्था में भी बच्चे को ब्रेस्टफीडिंग कराना बेहतर माना जाता है।

बच्चा जब तक दूध पीता है, मां को खानपान में कई बदलाव करना चाहिए। डाइट में जूस, दूध, लस्सी, नारियल पानी, दाल, फलियां, सूखे मेवे, हरी पत्तेदार सब्जियां, दही, पनीर और टमाटर शामिल करना चाहिए।

कब नहीं पिलाना चाहिए ब्रेस्टमिल्क

अगर मां एचआईवी पॉजिटिव, टीबी की मरीज या कैंसर के इलाज में कीमोथैरेपी ले रही है तो ब्रेस्टफीडिंग नहीं करानी चाहिए। अगर नवजात में गैलेक्टोसीमिया नाम की बीमारी पाई गई है तो मां को दूध नहीं पिलाना चाहिए। यह एक दुर्लभ बीमारी है जिसमें बच्चा दूध में मौजूद शुगर को पचा नहीं

पाता। इसके अलावा अगर माइग्रेन, पार्किंसन या आर्थराइटिस जैसे रोगों की दवा पहले से ले रही हैं तो डॉक्टर को जरूर बताएं।

5 भ्रम जो जरूर दूर करने चाहिए

भ्रम: स्तन का आकार छोटा होने पर पर्याप्त दूध नहीं बनता है।

सच: ब्रेस्टफीडिंग में इसका आकार मायने नहीं रखता, अगर मां स्वस्थ है तो बच्चों को पिलाने के लिए पर्याप्त दूध बनता है।

भ्रम: ब्रेस्ट फीडिंग सिर्फ बच्चे के लिए फायदेमंद है मां के लिए नहीं।

सच: ऐसा नहीं है। अगर महिला शिशु को रेग्युलर ब्रेस्टफीड कराती है तो उसमें ब्रेस्ट और ओवेरियन कैंसर का खतरा कम हो जाता है। साथ ही ऑस्टियोपोरोसिस की आशंका भी कम होती है।

भ्रम: रेग्युलर ब्रेस्टफीडिंग कराने से इसका साइज बिगड़ जाता है।

सच: ऐसा बिल्कुल भी नहीं है। ब्रेस्टफीडिंग के दौरान मां में प्रोलैक्टिन हार्मोन रिलीज होता है जो मां को रिलैक्स और एकाग्र करने में मदद करता है। कई स्टडीज में पाया गया है कि स्तनपान से मां को टाइप-2 डायबिटीज, रुमेटाइड आर्थराइटिस और हृदय रोगों से बचाव होता है।

भ्रम: मां की तबियत खराब होने पर बच्चे को ब्रेस्टफीड नहीं कराना चाहिए।

सच: मां की तबियत खराब होने पर भी बच्चे की ब्रेस्टफीडिंग बंद नहीं करनी चाहिए। इससे बच्चे की सेहत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। अगर पहले से कोई दवा ले रही हैं तो डॉक्टर को जरूर जानकारी दें।

भ्रम: पाउडर वाला मिल्क ब्रेस्ट मिल्क से बेहतर होता है।

सच: ये बिल्कुल गलत है। मां का दूध शिशु के लिए कंप्लीट फूड होता है। यह विटामिंस, प्रोटीन और फैट का सही मिश्रण होता है और बच्चे में आसानी से पच भी जाता है।

एल्गोरिदम सिस्टम

टीबी जैसी संक्रामक बीमारी होने से पहले जानकारी देगा एल्गोरिदम सिस्टम, इजराइली वैज्ञानिकों का दावा (Dainik Bhakar:20190802)

https://www.bhaskar.com/health/healthy-life/news/israeli-researchers-develop-algorithm-to-predict-infectious-diseases-in-future-01606469.html?utm_expid=.YYfY3_SZRPiFZGHcA1W9Bw.0&utm_referrer=https%3A%2F%2Fwww.bhaskar.com%2Fhealth%2F

विजमैन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस के शोधकर्ताओं ने विकसित किया संक्रामक बीमारी की जानकारी देने वाला एल्गोरिदम सिस्टम

हेल्थ डेस्क. इजरायली वैज्ञानिकों ने ऐसा सिस्टम विकसित किया है जो टीबी या दूसरी संक्रामक बीमारी होने से पहले ही अलर्ट कर देगा। ऐसी बीमारियों के होने का खतरा कितना है, यह भी बताया जा सकेगा। नेचर कम्युनिकेशन पत्रिका में प्रकाशित शोध के मुताबिक, रिसर्च शरीर में मौजूद रोगों से लड़ने वाला इम्यून सिस्टम और बैक्टीरिया पर की गई है। विकसित किए गए सिस्टम में एल्गोरिदम का इस्तेमाल किया गया है जो रक्त की जांच कर बताता है संक्रामक बीमारी का खतरा कितना है।

शरीर में लंबे समय तक रहता है टीबी का बैक्टीरिया

यह रिसर्च विजमैन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस के शोधकर्ताओं ने की है। उनके मुताबिक सबसे पहले इम्यून कोशिकाओं और बैक्टीरिया के मिलने पर क्या होता है, इसकी जांच की गई। ऐसे ब्लड का सैंपल लिया गया है जिसमें इम्यून सेल्स और साल्मोनेला बैक्टीरिया थीं।

शोध के अगले चरण में वैज्ञानिकों ने एक एल्गोरिदम तैयार किया जो इन दोनों के मिलने और बैक्टीरिया की संख्या बढ़ने पर क्या शरीर में क्या बदलाव होते हैं, इसकी जानकारी देता है। शोधकर्ताओं का कहना है कि यह एल्गोरिदम ट्यूबरकुलोसिस (टीबी) होने की शुरुआती अवस्था में इससे निपटने में मदद करता है।

शोधकर्ताओं के मुताबिक, एल्गोरिदम का पहला प्रयोग नीदरलैंड के एक स्वस्थ व्यक्तियों के ब्लड सैंपल पर किया गया था। इनमें से कुछ लोग साल्मोनेला बैक्टीरिया से संक्रमित थे और उनके इम्यून सिस्टम में हुए बदलाव को रिकॉर्ड किया गया। शोधकर्ता हेव-अवीवी का कहना है एल्गोरिदम पहले

इम्यून सेल्स और साल्मोनेला की जांच करता है क्योंकि सबसे ज्यादा बीमारी का कारण यह बैक्टीरिया है। इसके बाद टीबी की मुख्य वजह मायकोबैक्टीरियम ट्यूबरकुलोसिस की जांच करता है।

शरीर में टीबी के बैक्टीरिया का समय से पता चलना इसलिए जरूरी है क्योंकि यह बॉडी में लंबे समय तक रहती है और असर काफी समय बाद दिखता है। नए सिस्टम की मदद से मोनोसाइट्स इम्यून सेल्स की गतिविधि का स्तर भविष्य में बीमारी का खतरा बताने में मदद करेगा।

मोटापा

मोबाइल पर 5 घंटे से अधिक समय बिताने वालों में मोटापा बढ़ने का खतरा 43% ज्यादा (Dainik Bhaskar:2019802)

https://www.bhaskar.com/national/news/people-who-spend-5-hours-a-day-scrolling-have-43-higher-risk-of-obesity-study-finds-01603779.html?utm_expid=.YYfY3_SZRPiFZGHcA1W9Bw.0&utm_referrer=https%3A%2F%2Fwww.bhaskar.com%2Fhealth%2F

1 हजार स्टूडेंट्स पर हुई रिसर्च, फोन पर 5 घंटे से अधिक बिताने वाले 25% लोग मिले ओवरवेट

शोध के मुताबिक- मोबाइल का ज्यादा इस्तेमाल करने वाले स्टूडेंट्स मीठे पेय पदार्थ, फास्ट फूड और कैंडी खाते हैं

हेल्थ डेस्क. मोटापा बढ़ने का एक कारण मोबाइल का ज्यादा इस्तेमाल भी हो सकता है। कैलिफोर्निया की सिमोन बोलिवर यूनिवर्सिटी के हालिया शोध के मुताबिक, दिनभर में मोबाइल का 5 घंटे इस्तेमाल करने पर मोटापा बढ़ने का खतरा 43% तक बढ़ जाता है। शोध में इसका कारण मोबाइल में व्यस्त रहने के कारण फिजिकल एक्टिविटी न करना और ज्यादा खाना शामिल है।

मेटाबॉलिज्म बिगड़ने से बढ़ती है अनिद्रा

शोधकर्ताओं ने रिसर्च में 1000 स्टूडेंट्स को शामिल किया गया। जून से दिसंबर 2018 के बीच हुई रिसर्च में सामने आया कि फोन का अधिक इस्तेमाल करने वाले स्टूडेंट्स मीठे पेय पदार्थ, फास्ट फूड और कैंडी खाते हैं। एक्सरसाइज कम करते हैं। शोधकर्ताओं का कहना है कि यह आदत मेटाबॉलिज्म को धीमा करती है और नींद न आने की समस्या बढ़ती है। इसके चलते वजन बढ़ने लगता है।

शोधकर्ता और हृदय रोग विशेषज्ञ प्रो. मिरेरी मेंटीला-मोरोन के मुताबिक- शोध से समझ आता है कि क्यों मरीज के हाथों में मौजूद फोन ही सेहत खराब होने की अहम वजह है। लगातार मोटापा बढ़ने पर दिल के रोगों का खतरा भी बढ़ जाता है। अमेरिकन कॉलेज ऑफ कार्डियोलॉजी की कॉन्फ्रेंस में पेश की गई रिसर्च में बताया गया कि शोध में शामिल 25% स्टूडेंट्स ओवरवेट थे। ये लोग फोन पर रोजाना 5 घंटे से ज्यादा समय बिताते थे।

टेक्सास की राइस यूनिवर्सिटी के मुताबिक, फोन का अधिक इस्तेमाल करने वाले लोगों को जब फास्ट फूड दिया जाता है तो उनका खुद पर से नियंत्रण कम हो जाता है। 2016 में हार्वर्ड चैन स्कूल की रिसर्च में भी मोबाइल पर ज्यादा समय बिताने से मोटापा बढ़ने की आशंका जताई गई थी।

एचआईवी

9 सालों में एचआईवी से होने वाली मौतों का आंकड़ा 16 फीसदी तक गिरा, संयुक्त राष्ट्र ने जारी की रिपोर्ट (Dainik Bhaskar:20190802)

https://www.bhaskar.com/international/news/hiv-or-aids-deaths-fall-by-one-third-since-2010-but-experts-say-more-could-be-done-01596817.html?utm_expid=.YYfY3_SZRPiFZGHcA1W9Bw.0&utm_referrer=https%3A%2F%2Fwww.bhaskar.com%2Fhealth%2F2

'यूएन एड्स' संस्था ने 2010 से 2018 तक के आंकड़े जारी किए, दक्षिण अफ्रीका में मौत के आंकड़ों में सबसे ज्यादा गिरावट

रिपोर्ट के मुताबिक, गिरावट के बावजूद अब भी दक्षिण अफ्रीका सबसे ज्यादा एड्स प्रभावित देश

हेल्थ डेस्क. दुनियाभर में पिछले साल एचआईवी के 17 लाख नए मामले बढ़े लेकिन इससे होने वाली मौतों की संख्या में 2010 से अब तक 16 फीसदी की गिरावट आई है। मंगलवार को जारी संयुक्त राष्ट्र की हालिया रिपोर्ट में यह जानकारी सामने आई है। रिपोर्ट के मुताबिक, मौतों की संख्या में सबसे ज्यादा कमी साउथ अफ्रीका में आई है। पिछले 9 सालों में अब तक यहां 40 फीसदी तक संक्रमण और मौतें रोकने में सफलता मिली है।

सबसे ज्यादा नए मामले यूरोप और एशिया में

2018 के मुकाबले 33 फीसदी मौतें घटी

रिपोर्ट के मुताबिक, एड्स से होने वाली मौतों का आंकड़ा गिर रहा है क्योंकि अब इलाज मुहैया कराने की जद्दोजहद की जा रही है। एचआईवी और टीबी के मामलों को रोकने की कोशिश जारी है। 'यूएन एड्स' संस्था के मुताबिक एचआईवी के कारण होने वाली मौतों की संख्या घटकर पिछले साल 7,70,000 हो गई, जो साल 2010 के मुकाबले तकरीबन 33 फीसदी घटी है।

रिपोर्ट के मुताबिक, पूर्वी और दक्षिणी अफ्रीका अभी भी सर्वाधिक एचआईवी प्रभावित क्षेत्र हैं। सबसे ज्यादा चिंता करने वाली बात पूर्वी यूरोप और एशिया के लिए है, यहां एड्स के नए मामले तेजी से सामने आ रहे हैं। सेंट्रल एशिया में 29 फीसदी और मध्य एशिया में 10 फीसदी नए मामले सामने आए हैं। वहीं, दक्षिणी अफ्रीका में 10 फीसदी और लेटिन अमेरिका में यह आंकड़ा 7 फीसदी है।

'यूएन एड्स' की वार्षिक रिपोर्ट के मुताबिक, फिलहाल दुनियाभर में करीब 3.79 करोड़ लोग एचआईवी से संक्रमित हैं। इनमें से 2.33 करोड़ लोगों को ही 'एंटी रेट्रोवाइरल' थेरेपी मिल पा रही है। 2018 में 95 फीसदी नए मामलों का कारण ड्रग इंजेक्शन, समलैंगिक पुरुष, ट्रांसजेंडर, सेक्स वर्कर और कैदियों को बताया गया है। एचआईवी इंफेक्शन के ऐसे नए मामले ज्यादातर पूर्वी यूरोप, सेंट्रल-मध्य एशिया और नॉर्थ अफ्रीका में देखे गए हैं। दुनियाभर के आधे से अधिक देशों में 50 फीसदी आबादी इसकी रोकथाम के लिए प्रोटेक्शन का इस्तेमाल कर रही है।

1990 के दशक के मध्य में एड्स ने भयंकर महामारी का रूप ले लिया था। तब से इस रोग की रोकथाम के लिए संयुक्त राष्ट्र समेत दुनिया की तमाम एजेंसियों ने युद्ध स्तर पर प्रयास शुरू किए। हालिया रिपोर्ट में यह भी बताया गया है कि साल 2017 में इस रोग से आठ लाख लोग मारे गए थे जो पिछले साल घटकर सात लाख सत्तर हजार हो गए।

एड्स खत्म करने के लिए राजनैतिक नेतृत्व की जरूरत

‘यूएन एड्स’ संस्था के एग्जीक्यूटिव डायरेक्टर गुनीला कार्लसन का कहना है, एड्स को खत्म करने के लिए हमें राजनैतिक नेतृत्व की जरूरत है। इंसानों पर फोकस करने की जरूरत है न कि बीमारी पर। एक व्यवस्थित योजना बनाकर पिछड़े लोगों को आगे लाने की जरूरत है। एचआईवी से प्रभावित लोगों तक पहुंचने के लिए मानवाधिकार-आधारित तरीका अपनाएं।

ड्राई आई सिंड्रोम

**कम पलकें झपकाने से हो सकता है 'ड्राई आई सिंड्रोम', जरूरी है आंखों का झपकना; रहें सावधान!
(Dainik Jagran:20190802)**

<https://www.jagran.com/news/national-dry-eye-syndrome-causes-symptoms-of-chronic-dry-eye-jagran-special-19452078.html>

ड्राई आई सिंड्रोम में या तो आंखों में आंसू बनना कम हो जाता है या फिर उनकी गुणवत्ता अच्छी नहीं रहती। दरअसल आंसू आंख के कॉर्निया व कन्जंक्टाइवा को गीला रखकर उसे सूखने से बचाते हैं।

नई दिल्ली [जागरण स्पेशल]। पलकें झपकाना सामान्य शारीरिक प्रक्रिया है। आमतौर पर ऐसा माना जाता है कि आंखों की तरलता बनाए रखने के लिए पलकों का झपकना बेहद जरूरी है, लेकिन शोधकर्ताओं के मुताबिक पलकें झपकाने से दिमाग को ताजगी मिलती है क्योंकि पल भर के इसी लम्हें में हमारा दिमाग आराम कर लेता है। आंसू को हम दुखों का पर्याय मानते हैं, पर आंखों की अच्छी सेहत के लिए आंसू भी बेहद जरूरी हैं। इसी की वजह से आंखों की कुदरती नमी बरकरार रहती है, पर आजकल लोगों की आंखों में रूखेपन की समस्या तेजी से बढ़ रही है। आधुनिक जीवनशैली ने जिन स्वास्थ्य समस्याओं को जन्म दिया है, ड्राई आई सिंड्रोम भी उन्हीं में से एक है। इसमें आंखों की नमी कम हो जाती है। सामान्य दृष्टि के लिए आंखों में नमी होना बहुत जरूरी है।

क्यों जरूरी है पलकें झपकाना

आपने देखा होगा कि स्वस्थ आंखों की पुतलियां हमेशा गीली नजर आती हैं। दरअसल आंखों की पुतलियों पर एक खास तरह का लिक्विड होता है, जो ल्यूब्रिकेंट की तरह काम करता है। जब आप

पलकें झपकाते हैं, तो ये ल्यूब्रिकेंट पुतलियों में अच्छी तरह फैलता रहता है और आंखों की पुतलियों पर नमी बरकरार रहती है। इसके उलट जब आप पलकें कम झपकाते हैं, तो ल्यूब्रिकेंट सही तरीके से आंखों में फैलता नहीं है। इसी कारण से आंखों में सूखापन आ जाता है, जिसे ड्राई आई सिंड्रोम कहा जाता है।

क्या है ड्राई आई सिंड्रोम

ड्राई आई सिंड्रोम में या तो आंखों में आंसू बनना कम हो जाता है या फिर उनकी गुणवत्ता अच्छी नहीं रहती। दरअसल आंसू, आंख के कॉर्निया व कन्जंक्टाइवा को नम व गीला रखकर उसे सूखने से बचाते हैं। वहीं हमारी आंखों में एक टियर फिल्म होती है, जिसकी सबसे बाहरी परत को लिपिड या ऑयली लेयर कहा जाता है। यही लिपिड लेयर आंसू के ज्यादा बहने, गर्मी एवं हवा में आंसू के सूखने या उड़ने को कम करती है। लिपिड या फिर यह ऑयली लेयर ही आंखों की पलकों को चिकनाई प्रदान करती है, जिससे पलकों को झपकाने में आसानी रहती है। लेकिन बहुत देर तक कंप्यूटर पर काम करने या बहुत ज्यादा टीवी देखने या फिर लगातार एयरकंडीशन में रहने से आंखों की टीयर फिल्म प्रभावित होती है और आंखें सूखने लगती हैं। इसे ही ड्राई आई सिंड्रोम कहा जाता है।

आंखों का मॉइस्चराइजर

आपको यह जानकर ताज्जुब होगा कि आंसू भी हमारी आंखों के लिए बेहद जरूरी हैं। आंखों में मौजूद लैक्रीमल ग्लैंड आंसू बनाने का काम करते हैं। दरअसल आंसू हमारी आंखों के लिए कुदरती मॉइस्चराइजर की तरह होते हैं। आंखों को स्वस्थ बनाए रखने में इनकी अहम भूमिका होती है। इसी वजह से आंखों की ऊपरी सतह नम रहती है और पलकें झपकाने पर उनको आराम मिलता है। आई बॉल्स के संचालन के साथ आंसू आंखों में मौजूद गंदगी हटाने का भी काम करते हैं। इसी नमी की वजह से आई बॉल्स को ऑक्सीजन और अन्य पोषक तत्व मिलते हैं। आंसू में मौजूद एंजाइम आंखों को इंफेक्शन से भी बचाता है। आंखों से आंसू निकलना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। प्रतिदिन हमारी आंखों से आंसू निकलते रहते हैं और पलकों के भीतरी कोने से छन कर नाक में चले जाते हैं, लेकिन कभी-कभी आंखों में रुखापन आने लगता है। ऐसी स्थिति में लैक्रीमल ग्लैंड से आंसुओं का सिक्रीशन नहीं होता या उनके सूखने की गति तेज हो जाती है। इससे आंखों में किरकिरी, जलन और चुभन महसूस होती है। कई बार ऊपरी पलकों में इंफेक्शन भी हो जाता है। ऐसी समस्या को एवेपोरेटिव टियर डिफिशिएंसी कहा जाता है।

बचाव एवं उपचार

घर से बाहर निकलते समय हमेशा अच्छी क्वालिटी का सनग्लास पहनें

आमतौर पर आंखों की नमी बढ़ाने वाले आई ड्रॉप्स से ड्राई आई की समस्या दूर हो जाती है

कंप्यूटर पर काम करते या पढ़ते समय हर एक घंटे के अंतराल पर दो मिनट के लिए अपनी आंखें बंद करें

अपने मन से दवाओं का सेवन न करें क्योंकि कुछ दवाओं के साइड इफेक्ट से भी आंखों की नमी सूखने लगती है

ओमेगा-3 फैटी एसिड आंखों के लिए बहुत जरूरी है। मछली, अखरोट, बादाम और फ्लैक्ससीड में यह तत्व भरपूर मात्रा में पाया जाता है

अगर कोई तकलीफ न हो तो भी कम से कम साल में एक बार रूटीन आई चेकअप जरूर करवाएं और डॉक्टर के सभी निर्देशों का पालन करें

अगर कॉन्टेक्ट लेंस का इस्तेमाल करती हैं तो उसे नियमित रूप से अच्छी तरह साफ करें। बेहतर यही होगा आप अच्छी क्वालिटी का डिस्पोजेबल कॉन्टेक्ट लेंस का इस्तेमाल करें

अपने भोजन में ऐसी चीजों को शामिल करें, जिनमें एंटी ऑक्सीडेंट तत्व और विटमिन ए पर्याप्त मात्रा में मौजूद हों। इसके लिए संतरा, पपीता, आम, नींबू और टमाटर आदि का सेवन फायदेमंद होता है

डेंगू मलेरिया

तो इस तरह जल्द ही भारत से मिट जाएगा मच्छर का नामोनिशान! (Dainik Jagran:20190802)

<https://www.jagran.com/lifestyle/health-due-to-global-warning-dengue-and-other-dangerous-mosquitoes-will-go-extinct-19454639.html>

हाल ही में आई रिपोर्ट्स की माने तो मच्छर से होने वाली जानलेवा बीमारियों का अंत अब दूर नहीं। इसका मतलब जल्द ही ऐसा वक्त आएगा जब किसी को भी डेंगू मलेरिया जैसी बीमारियां नहीं होंगी।

नई दिल्ली, जेएनएन। हर साल मानसून का मौसम शुरू होते ही डेंगू, मलेरिया और चिकनगुनिया जैसी बीमारी अपना कहर बरपाना शुरू कर देती हैं। खासकर उत्तर भारत में इन बीमारियों का प्रकोप ज़्यादा

देखा गया है। साल दर साल लाखों लोग मच्छर की वजह से होने वाली इन बीमारियों की वजह अपनी जान गंवा बैठते हैं। हालांकि हाल ही की रिपोर्ट्स की माने तो मच्छर से होने वाली जानलेवा बीमारियों का अंत अब दूर नहीं है। इसका मतलब जल्द ही ऐसा वक़्त आएगा जब किसी को भी डेंगू, मलेरिया जैसी बीमारियां नहीं होंगी। लेकिन क्या सच में ऐसा मुमकिन है...आइए इसका पता लगाते हैं।

खुद रफूचक्कर हो जाएंगे जानलेवा मच्छर

इस समय भारत और खासकर दिल्ली और उसके आसपास बरसात का मौसम चल रहा है। बारिश का मौसम गर्मी से राहत के साथ डेंगू और मलेरिया जैसी खतरनाक बीमारियों भी लेकर आता है। डेंगू का मच्छर मानसून में ही पैदा होता है।

इस मौसम में खासकर डॉक्टरों से लेकर नगर निगम सभी को मच्छरों को दूर रखने और उससे होने वाली बीमारियों से बचने की सलाह देते हैं। इस मौसम के साथ एक खबर बड़ी तेज़ी से वायरल होना शुरू हुई। वह यह कि अब देश से डेंगू मच्छर का नामो निशान ही मिट जाएगा। इस खबर को सुनकर लोगों को सुकून ज़रूर पहुंचा होगा क्योंकि मच्छर से होने वाली इन बीमारियों के लिए कोई खास दवा नहीं है और न ही किसी तरह का टीका। इलाज के दौरान अगर जेब खाली हो जाती है तो जान पर भी बन सकती है।

दुनिया भर में हर साल डेंगू की वजह से करीब 10 हजार लोगों मरते हैं। इनमें से 70 फीसद लोग ब्राजील और भारत जैसे देशों से हैं। दुनिया की जानी मानी वैज्ञानिक जर्नल नेचर माइक्रोबायोलॉजी ने अपने शोध में पाया कि 2015 के मुकाबले 2080 में दुनियाभर में करीब 200 करोड़ लोगों पर डेंगू का खतरा मंडराएगा, लेकिन भारत में हालात कुछ अलग होंगे।

ऐसे हो सकता है मच्छर का खात्मा

अगले 60 साल में ऐसा मुमकिन है कि डेंगू के मच्छर ग्लोबल वॉर्मिंग की वजह से भारत की गर्मी बर्दाश्त ही न कर पाएं और खत्म हो जाएं। दरअसल, डेंगू वायरस फैलाने वाले एडिस मच्छर भारत की गर्मी ही नहीं झेल पाएंगे। भारत का मौसम इतना खराब हो जाएगा कि इन मच्छरों की पैदावार रूक जाएगी।

पॉस्चर कोच

चलने का तरीका सही करेगा पॉस्चर कोच, खराब पॉस्चर के इन खतरों को जानिए
(Hindustan:20190802)

<https://www.livehindustan.com/health/story-health-gadgets-know-how-posture-coach-helps-in-right-posture-and-how-it-works-in-hindi-2663084.html>

आज हम खुद को फिट रखने के लिए क्या कुछ नहीं करते। लेकिन जब तक हम अपनी रोजमर्रा की जिंदगी में चलने और बैठने में छोटे-छोटे सुधार नहीं करेंगे, तब तक शरीर से बीमारियां दूर नहीं होंगी। इसमें सहायक डिवाइस पॉस्चर कोच के बारे में बता रही हैं नीतिका श्रीवास्तव

काम के बोझ और व्यस्त दिनचर्या के बीच हम खुद पर पूरा ध्यान नहीं दे पाते। हम में से कई ऐसे लोग हैं, जो सीधा नहीं चलते या यूं कहें कि झुककर चलते हैं। इस खराब आदत से शरीर की आकृति तो खराब होती ही है, सेहत पर भी बुरा असर पड़ता है। अगर समय रहते झुककर चलने की आदत को नहीं सुधारा गया, तो इससे घातक बीमारियां भी हो सकती हैं। इसलिए हमें एक ऐसे केयर टेकर की जरूरत होती है, जो चलते समय शरीर को सीधा रखने में हमारी मदद करे। पॉस्चर कोच एक ऐसी ही डिवाइस है, जो हमें सही तरीके से चलने में मदद करती है।

क्या है पॉस्चर कोच

पॉस्चर कोच सीधे तरीके से चलने में बेहद मददगार है। ऐसे लोगों की कमी नहीं, जिन्हें ऑफिस या घर में बैठकर कई-कई घंटे काम करना पड़ता है। लगातार झुककर बैठे रहने से चलने पर भी बुरा असर पड़ने लगता है। इससे कंधे झुक जाते हैं, जिससे थकान, मांसपेशियों में तनाव, सांस लेने में कठिनाई, पीठ दर्द, ऑस्टियोपोरोसिस और यहां तक कि अवसाद जैसे स्वास्थ्य खतरों का सामना करना पड़ सकता है। पॉस्चर कोच इसमें मददगार होगा। इसे आप दिनभर पहनकर रख सकते हैं। इसकी सबसे खास बात यही है कि इसे आसानी से कहीं भी लाया और ले जाया जा सकता है।

कैसे करता है काम

आज के समय में 10 में से 7 लोग पीठ दर्द की समस्या से परेशान होते हैं। इसके प्रमुख कारणों में घंटों झुककर काम करना और झुककर चलना शामिल हैं। पॉस्चर कोच दोनों कंधों को सीधा रखने के साथ-साथ रीढ़ की हड्डी को भी सीधा रखता है। अच्छे परिणाम के लिए इसे लगातार पहनना सबसे उपयुक्त

होता है। इसे पहनने के बाद जब भी आपके कंधों में झुकाव होगा, इसमें लगे फाइबर ऑप्टिकल सेंसर में कंपन होता है और हम सावधान हो जाते हैं।

क्या है इसकी कीमत

पॉस्चर कोच हेल्थ को फिट रखने के लिए सबसे अच्छा केयर टेकर है। बात अगर इसकी कीमत की करें, तो आपको भारतीय बाजार में बहुत ही कम दामों में यह मिल जाएगा। इसकी शुरुआती कीमत सिर्फ 500 रुपए है। लेकिन ब्रांड और फीचर्स के साथ इसकी कीमत बढ़ और घट भी सकती है।

क्या हैं खास

पॉस्चर कोच अपनी खास खूबियों से भरपूर है। रीढ़ की हड्डी को सीधा रखने के साथ-साथ कंधों के झुकाव को भी ठीक करने में मददगार है। वैसे भारतीय बाजार में शरीर के पॉस्चर को सुधारने के लिए डिवाइस की भरमार है। लेकिन पॉस्चर कोच सबसे आरामदायक डिवाइस में से एक है। इसे महिला, पुरुष और बच्चे भी अपनी आदत में शामिल कर सकते हैं। हर उम्र के लोगों के लिए पॉस्चर कोच पीठ दर्द से छुटकारा पाने के लिए बेहतरीन विकल्पों में से एक है। इसे खासतौर पर रीढ़ की हड्डी और झुके हुए कंधों को सीधा रखने के लिए इस्तेमाल में लाया जा सकता है।

National Medical Commission Bill

National Medical Commission is no cure-all, many important questions remain (The Indian Express:20190802)

<https://indianexpress.com/article/opinion/columns/health-care-is-ailing-aiims-neet-exam-doctors-protest-nmc-bill-5870681/>

The excessive reliance on a battery of diagnostic tests is reflective of both commercial considerations as well as weak knowledge. Students spending lakhs to become doctors resort to unethical practices to recoup their investment and pollute the system.

Doctors and students from IMA stage a protest against the National Medical Commission Bill outside Nirman Bhavan in New Delhi.

There are six reasons why governments would like to regulate medical education. One, to ensure that doctors are appropriately trained and skilled to address the prevailing disease burden; two, to ensure that medical graduates reflect a uniform standard of competence and skills; three, to ensure that only those with basic knowledge of science and aptitude for the profession get in; four, to ensure ethical practice in the interest of the patients; five, to create an environment that enables innovation and research; and six, to check the corrosive impact of the process of commercialisation on values and corrupt practices. The question is whether the National Medical Commission Bill passed by Rajya Sabha on Thursday addresses these concerns.

The problem of inappropriately trained doctors of varying quality has been known since decades. The report of the Mudaliar Committee set up in 1959 had devoted substantial space to pointing out how doctors had neither the skills nor the knowledge to handle primary care and infectious diseases that were a high priority concern then as now. Likewise, standards vary greatly with competence levels dependent upon the college of instruction. In professionalising the MCI, with experts for all levels of education and practice, the NMC Bill can be a gamechanger.

It has the potential to be more nimble in setting curricula, teaching content, adding new courses and providing the much needed multisectoral perspectives. More importantly, the NMC has the potential to link the disease burden and the specialties being produced. In the UK, for example, it is the government that lays down how many specialists of which discipline need to be produced, which the British Medical Council then adheres to. In India, the MCI has so far been operating independently. This gap can be bridged by the NMC. Given the right people, it is also possible that the NMC can encourage and incentivise innovation and promote research by laying down rules that make research a prerequisite in medical colleges.

It is in curbing unethical practice and commercialisation of medical education that the Bill falls short. Today, there are 536 medical colleges with 79,627 seats. Of them, 260 or 48.5 per cent are private with 38,000 seats. The bill allows differential pricing with freedom for the college managements to levy market determined fees on 19,000 students, under what is called the management quota. This is admission for those with the ability to pay. There are colleges that are rumoured to arrange admission and the degree for a fee.

To counter such practices, the Bill has proposed mandating the NEET and NEXT. I was Secretary, Health, when these two concepts came into the policy dialogue. The NEET was mooted by the then board of governors for three reasons: One, to reduce the pain of students having to take an estimated 25 examinations to gain admission in a college; two, given the abysmal level of high school education, to ensure a minimum level of knowledge in science, and three, to reduce corruption by restricting student admission to those qualifying the NEET. Measured against these three goals, the experience has been mixed, demanding a rethink.

The NEXT is an idea borrowed from the UK that has for over seven years been struggling to introduce it. In all such countries, the licensing exams are stretched into modules, not a

multiple choice questions type of exam. The underlying belief is that in centralising the qualifying examination, a college with the largest number of failed students will automatically close down. Following from this, the Bill has virtually given up inspections for assuring the quality of education.

It is a fact that the MCI required a college to be inspected 25 times to get final recognition, each being a rent seeking exercise. That “inspector Raj”, as the Health Minister noted, will be done away with, is indeed a positive step. But in relying only on the NEXT as the principal substitute is to abdicate governance. Undoubtedly, there are grey areas giving scope for corrupt practices and production of substandard doctors. It would have been preferable to have tested the waters, examined the implications and then introduced the reform rather than including it in a law that is difficult to amend.

The excessive reliance on a battery of diagnostic tests is reflective of both commercial considerations as well as weak knowledge. Students spending lakhs to become doctors resort to unethical practices to recoup their investment and pollute the system. In the US, despite tight regulations and remunerative payment systems, there is still substantial unethical practice. The Bill, in reducing oversight, allowing extensive discretionary powers to government to set aside decisions of the NMC, making it virtually an advisory body, gives scope for the current state of affairs to continue, only at a higher premium nullifying the major need for reform of the MCI. This is the most worrying aspect of the NMC. In other words, the MCI got into disrepute only when commercialisation of medical education set in in the 1990’s, and the amendment of the MCI Act in 1993, reducing the autonomy of the MCI and making it subservient to government. This has now been taken to another level in the Bill.

The Bill has other irritants — like permitting a registered medical practitioner to prescribe medicines. Left vague, much will depend on the rules. While there is a need to decentralise, to give to non-medical personnel some powers and authority, it needs tight regulation and supervision. Given our inability to enforce the Drugs and Cosmetics Act, as seen in the rising rate of the antimicrobial resistance problem, the issue of which comes first needs to be carefully examined. Prudence may be advisable. Another irritant is the continuance of the two parallel streams of producing specialists. By not bringing the DNB under the purview of the NMC, the DNB system is left open to abuse.

No law is perfect. It is dependent upon the people who interpret and implement it. Government has, under this Bill, arrogated to itself an unprecedented power to appoint people in the various arms of the proposed structure. The quality and integrity of these people will then define the future of the health system in India. We hope for the best as the long, bitterly fought battle to reform the 86-year-old MCI comes to a close.

RS passes NMC Bill with 2 amendments (The Tribune:20190802)

<https://www.tribuneindia.com/news/nation/rs-passes-nmc-bill-with-2-amendments/811584.html>

Will go back to Lok Sabha for ratification

The Rajya Sabha today passed the National Medical Commission Bill, which intends to replace the old Medical Council of India (MCI) with a new body. The Bill was passed with two official amendments relating to clauses dealing with representation in the commission.

Even as the Lok Sabha had already passed the National Medical Commission Bill, 2019, the proposed legislation would now again go back to the Lower House, as the two amendments need to be approved by it.

Replying to a four-hour discussion on the Bill, Minister for Health and Family Welfare Harsh Vardhan described the legislation as one of the biggest reforms for medical education in the country. However, it was passed on a day when doctors were on a countrywide strike against the proposed legislation.

The Bill that seeks to repeal the Indian Medical Council Act, 1956, was approved by a voice vote in the Upper House, amid a walkout by AIADMK members.

Noting that the Bill “in no way intends to promote quackery”, as apprehended by a few members, the minister asserted that NEET “is already an institutionalised body” which is conducting examinations in 13 languages.

He went on to add that the legislation has strong provisions against wrong practices that include one-year imprisonment and Rs 5-lakh fine as against a nominal fine by the MCI.

“Once the NMC Bill is approved, exit examination in the final year of MBBS will be implemented over the next three years,” the minister said, adding that 40,000 of the total 80,000 of MBBS seats are under government institutions and there would be a cap on fees too.

Noting that state governments will have regulation powers on 50 per cent of seats, the minister said, “Members claimed that the representation of states is less in the NMC. But of the 25 members of the council, 11 are state representatives.”

Harsh Vardhan also thanked senior Congress leader Ghulab Nabi Azad for his valuable suggestions and said the “good ideas of the previous government have been implemented”.

Its provisions

The National Medical Commission Bill intends to replace the Medical Council of India with a new body

It contains provisions against wrong practices that include one-year jail and Rs 5-lakh fine

Once the Bill is approved, exit examination in the final year of MBBS will be implemented over the next three years

Skin Cancer

Vitamin A intake linked with lower skin cancer risk (The Tribune:20190802)

<https://www.tribuneindia.com/news/health/vitamin-a-intake-linked-with-lower-skin-cancer-risk/811268.html>

Intake of vitamin A may be associated with a lower risk of a common type of skin cancer, a study claims.

The study of about 125,000 Americans found that people with the highest intake of vitamin A lowered their risk of squamous cell skin cancer by around 15 per cent.

Most of the vitamin A they consumed came from foods, according to the study published in the journal JAMA Dermatology.

"These findings just add another reason to have a healthy diet with fruits and vegetables. Vitamin A from plant sources is safe," said Eunyoung Cho, an associate professor at Brown University in the US.

Healthy food sources of vitamin A include sweet potato, cantaloupe, carrots, black-eyed peas, sweet red peppers, broccoli, spinach, dairy foods, fish and meat, especially liver, according to the US National Institutes of Health (NIH).

Vitamin A is a fat soluble vitamin. That means it can collect in the fat cells.

However, when taken in large amounts -- like those in supplements -- people can potentially reach an unsafe level of vitamin A, according to the NIH.

Adults shouldn't consume more than 10,000 international units (IU) of preformed vitamin A daily, the NIH said.

Cho said too much preformed vitamin A -- typically from supplements and some animal foods -- increases the risk of osteoporosis and hip fractures.

Squamous cell carcinoma is a common type of skin cancer. Over a lifetime, as many as 11 per cent of Americans will have squamous cell skin cancer, the researchers said.

It tends to occur in areas exposed to a lot of sunlight, such as the face and head.

The study included data from more than 75,000 women who took part in the Nurses' Health Study and almost 50,000 men in the Health Professionals Follow-up Study.

Participants' average age was in the early 50s.

Study volunteers provided information on their average diet and supplement use.

Nearly 4,000 people ended up with squamous cell skin cancer during more than 25 years of follow-up, the findings showed.

Average daily vitamin A intake was around 7,000 IU daily for the lowest group in both studies.

The highest group in both studies had more than 21,000 IU daily. Most of this came from dietary sources, the researchers said.

They noted that increasing use of vitamin A supplements didn't appear to lower the risk of squamous cell skin cancer.

Vitamin A seemed to be even more protective for people with numerous moles and those who had a blistering sunburn in childhood or adolescence.

The study wasn't designed to prove a cause-and-effect link, but Cho said that vitamin A works to keep skin cells healthy, and that may be why it's linked to a lower risk of squamous cell cancers.

However, she added, even if people have a healthy diet full of vitamin A, they still need sunscreen when they are outside.

In addition, vitamin A didn't prevent squamous cell skin cancers entirely, she noted.

The study also didn't look at vitamin A's effect on other forms of skin cancer, such as basal cell carcinoma and melanoma. PTI

Ageing

Ear 'tickle' therapy may help slow ageing: Study (The Tribune:20190802)

<https://www.tribuneindia.com/news/health/ear-tickle-therapy-may-help-slow-ageing-study/810284.html>

Tickling the ear with a small electric current may rebalance the nervous system in over-55s and help them age more healthily, a study claims.

Scientists at the University of Leeds in the UK found that a short daily therapy delivered for two weeks led to physiological wellbeing, including a better quality of life, mood and sleep.

The therapy, called transcutaneous vagus nerve stimulation, delivers a small, painless electrical current to the ear, which sends signals to the body's nervous system through the vagus nerve.

The new research, published in the journal *Aging* suggests the therapy may slow down an important effect associated with ageing.

This could help protect people from chronic diseases which we become more prone to as we get older, such as high blood pressure, heart disease and atrial fibrillation.

The researchers suggest that the 'tickle' therapy has the potential to help people age more healthily, by recalibrating the body's internal control system.

"The ear is like a gateway through which we can tinker with the body's metabolic balance, without the need for medication or invasive procedures. We believe these results are just the tip of the iceberg," said Beatrice Bretherton, from the University of Leeds.

"We are excited to investigate further into the effects and potential long-term benefits of daily ear stimulation, as we have seen a great response to the treatment so far," Bretherton said.

The autonomic nervous system controls many of the body's functions which don't require conscious thought, such as digestion, breathing, heart rate and blood pressure.

It contains two branches, the sympathetic and the parasympathetic, which work against each other to maintain a healthy balance of activity.

As we age, and when we are fighting diseases, the body's balance changes such that the sympathetic branch begins to dominate.

This imbalance makes us more susceptible to new diseases and leads to the breakdown of healthy bodily function as we get older.

Clinicians have long been interested in the potential for using electrical currents to influence the nervous system.

The vagus nerve, the major nerve of the parasympathetic system, has often been used for electrical stimulation and past research has looked at the possibility of using vagus nerve stimulation to tackle depression, epilepsy, obesity, stroke, tinnitus and heart conditions.

However, this kind of stimulation needs surgery to implant electrodes in the neck region, with associated expense and small risks of side effects.

However, there is one small branch of the vagus nerve that can be stimulated without surgery, located in the skin of specific parts of the outer ear.

Previous research has shown that applying a small electrical stimulus to the vagus nerve at the ear, which some people perceive as a tickling sensation, improves the balance of the autonomic nervous system in healthy 30-year-olds.

Other researchers worldwide are now investigating if this transcutaneous vagus nerve stimulation (tVNS) could provide a therapy for conditions ranging from heart problems to mental health.

In their new study, scientists wanted to see whether tVNS could benefit over 55-year-olds, who are more likely to have out-of-balance autonomic systems that could contribute to health issues associated with ageing.

They recruited 29 healthy volunteers, aged 55 or above, and gave each of them the tVNS therapy for 15 minutes per day, over a two week period.

Participants were taught to self-administer the therapy at home during the study.

The therapy led to an increase in parasympathetic activity and a decrease in sympathetic activity, rebalancing the autonomic function towards that associated with healthy function.

In addition, some people reported improvements in measures of mental health and sleeping patterns.

Being able to correct this balance of activity could help us age more healthily, as well as having the potential to help people with a variety of disorders such as heart disease and some mental health issues, researchers said.

Improving the balance of the autonomic nervous system also lowers an individual's risk of death, as well as the need for medication or hospital visits, they said. — PTI

Breast Cancer

Fluorescence imaging to identify cancer-affected breast tissues introduced in AIIMS (The Tribune:20190802)

<https://www.tribuneindia.com/news/health/fluorescence-imaging-to-identify-cancer-affected-breast-tissues-introduced-in-aiims/809249.html>

During breast cancer surgery, surgeons inject a safe and affordable indocyanine green (ICG) dye in patients.

In a first, a state-of-the-art fluorescence imaging technology for easy identification of cancer-affected tissues in breast has recently been introduced at the AIIMS here.

According to Dr SVS Deo, Head of the Department of Surgical Oncology at AIIMS, the technology will be a "game changer" in breast cancer surgery space as it precisely helps identify relevant tissue intra-operatively.

During breast cancer surgery, surgeons inject a safe and affordable indocyanine green (ICG) dye in patients. Using Fluorescence Imaging technology, surgeons can view blood flow in vessels, micro-vessels, tissue perfusion and critical anatomical structures intra-operatively.

"The relevant tissues light up in fluorescent green colour. The reliability and multiple applications of the imaging are a significant differentiation compared to currently used technologies like blue dye," he said.

"Due to lack of this critical information, earlier all lymph nodes including healthy ones would be removed completely causing significant collateral damage to patient. With Fluorescence Imaging technology we can now save healthy tissue and improve patient safety and outcomes," Dr Deo said.

The technology uses near-infrared fluorescence imaging during cancer surgery that allows real time, clinically significant and actionable information to improve quality of care, outcomes and safety of patients.

Currently, the most common method to detect and remove lymph nodes during surgery is the use of blue dye and radiocolloid while using a gamma probe.

"Challenge with gamma probe is that it involves injecting radiation into the patient and is not widely available across healthcare institutes due to regulatory restrictions as well as high operating cost per surgery," Dr Deo said adding infrared FI technology with its accuracy and precision, not only helps improve patient outcomes, but also provides alternative options compared to current technologies like gamma probe.

Dr David Weintritt, a breast cancer expert from GW School of Medicine and Health Sciences, US, who joined one of the workshops held at AIIMS on the use of the technology recently, said during surgery, the technology provides critical information about patient's anatomy, when information is most important.

"Equipped with this information, several complications can be proactively avoided, thereby reducing healthcare burden," Dr Weintritt said.

This technology can also be used in breast oncoplasty and breast reconstruction post mastectomy. FI reveals areas that do not have adequate blood supply allowing the surgeon to remove tissue that would otherwise lead to problems in healing, infections and unnecessary additional surgeries which are costly, Dr Weintritt explained.

More than 250 peer-reviewed publications demonstrate that the use of this technology will improve clinical outcomes and help surgeons choose the next line of treatment. —PTI

Sex Ratio

Centre to collate data to study sex ratio trends (Hindustan Times:20190802)

<http://paper.hindustantimes.com/epaper/viewer.aspx>

NEWDELHI: The Union ministry of women and child development (WCD) plans to collate data from several ministries and departments to study sex ratio trends across the country in an attempt to reconcile fluctuations in various data sets and arrive at a clearer understanding of the numbers that are skewed in favour of male progeny.

The ministry, which relies on health ministry data to determine trends up to the district level, will now study more detailed data sets. "We will go into more granular data up to the household level, collate it and study the trends that emerge," said a ministry official.

The move has been prompted by fluctuations in sex ratio rates in different states that emerged from different data sets.

The ministry of women and child development will now collate information from central bodies like the ministry of home affairs, under which the Registrar General collects data for the decadal Census, the Department of School Education and Literacy under the ministry of human resource development and the health ministry's Health Management Information System (HMIS) demographic data.

It will also study data on minorities and marginalised population gathered by the tribal affairs ministry, social justice ministry and the minority affairs ministry. The WCD ministry plans to study these data sets through an artificial intelligence and upload it online.

Last month, according to Sample Registration System survey data released by the government, the sex ratio at birth (SRB) had gone down from 898 girls for every 1,000 boys born to 896 between 2015 and 2017. This translated to 12 million missing girl children within a span of three years, said Alok Vajpeyi of the Population Fund of India (PFI). The calculation is based on the rate of decline of girl children over the two years when compared with against the growth in India's population, Vajpeyi said.

In June this year, the ministry, quoting the health ministry's HMIS data, told Parliament that SRB increased from 923 to 931 between 2015-16 and 2018-19.

In January, data collated by the Registrar General of India from the civil registration system (CRS) showed that in 2016, 877 girls were born in India per 1,000 boys. Additionally, according to the policy think tank Niti Aayog's "Healthy States: Progressive India" report for 2018, a report card of the performance of states on 21 indicators, the SRB for 2017-18 was pegged at 913.

Traditionally, demographers rely on Census data, or the RGI's SRS data, or the National Family Health Survey (NFHS) data, said Vajpeyi. His colleague, Poonam Muttreja, executive director at PFI, said the comparative trends in these three data sets are similar. The NFHS 5 data is expected late this year or early next year.

A senior health ministry official said without reliable data sets on the child sex ratio, crude birth rate and infant mortality, it would be difficult to compute the actual sex ratio between two Censuses. The ministry has now written to states for verifiable data.

In general, data collected by states cannot be relied upon as the sole criterion for determining the sex ratio, said Haryana-based activist Jagmati Sangwan.

Genetics

Japan approves growing human organs in animals for first time (The Hindu:20190802)

<https://www.thehindu.com/sci-tech/science/japan-approves-growing-human-organs-in-animals-for-first-time/article28787782.ece>

Modified embryos are implanted with human cells

Scientists in Japan will begin trying to grow human organs in animals after receiving government permission for the first study of its kind in the country.

The cutting-edge — but controversial — research involves implanting modified animal embryos with human “induced pluripotent stem” (iPS) cells that can be coaxed into forming the building blocks of any part of the body.

It is the first step in what researchers caution is a very long path towards a future where human organs for transplant could be grown inside animals.

The research led by Hiromitsu Nakauchi, a professor of genetics at Stanford University, is the first of its kind to receive government approval after Japan changed its rules on implanting human cells into animals.

Japan had previously required researchers to terminate animal embryos implanted with human cells after 14 days and prevented the embryos from being placed into animal wombs to develop.

But in March those restrictions were dropped, allowing researchers to seek individual permits for research projects. “It took nearly 10 years, but we are now able to start the experiment,” Mr. Nakauchi said.

The research involves generating animal embryos — mice, rats or pigs — that lack a particular organ such as a pancreas.

The modified embryos are then implanted with human iPS cells that can grow into the missing pancreas. The embryos would be transplanted into wombs where they could theoretically be carried to term with a functioning human pancreas.

Drug Resistance

Cigarette smoke increases superbug's antibiotic resistance (Medical News Today:20190802)

<https://www.medicalnewstoday.com/articles/325932.php>

New research analyzes the effect of cigarette smoke on MRSA strains and finds that it makes the bacteria more persistent, more invasive, and more resistant to certain antibiotics.

Researchers call for smokers to quit as they reveal the harmful effects of cigarette smoke on drug resistant bacteria.

Smoking is the leading cause of preventable death across the world, with tobacco use, including smoking, being responsible for over 7 million fatalities each year.

In the United States, over 16 million people have a smoking related condition, and tobacco smoking causes 1 in 5 deaths each year.

Researchers and healthcare professionals know that smoking impairs a person's immune system and the defenses against infections. However, they do not know much about how cigarette smoke affects microbes that live in the nasopharyngeal cavity, in particular.

A new study aims to remedy this gap in research by examining the effect of cigarette smoke on *Staphylococcus aureus* (*S. aureus*).

Maisem Laabei, from the Department of Biology & Biochemistry at the University of Bath in the United Kingdom, is the lead author of the new research, which appears in the journal *Scientific Reports*.

Choosing to study *S. aureus* and MRSA

Dr. Laabei explains the motivation for the research, saying, "We wanted to study *S. aureus* because it's so common in humans and it can cause a range of diseases, so we wanted to see what happened when we exposed it to smoke."

S. aureus is part of the nasal microflora of 30–60% of people. The pathogen can cause various infections that can range from minor, such as superficial skin infections, to very severe and potentially fatal, such as pneumonia or endocarditis.

How cranberries may curb the antibiotic resistance crisis

Cranberry molecules can make bacteria more sensitive to antibiotics.

Antibiotic resistant strains of *S. aureus* are a significant contributor to the microbial resistance public health crisis. Methicillin-resistant *S. aureus* (MRSA) specifically, causes 94,360 invasive infections each year in the U.S., and about 18,650 people die as a result.

MRSA is a "clonal pathogen," explain the researchers, and several studies have singled out a few "predominant clones that are responsible for the majority of the global prevalence of MRSA and subsequent disease burden."

In the new study, Dr. Laabei and colleagues exposed six of the most common strains of MRSA "superbug" clones. They chose the strains based on their clinical relevance and genetic diversity.

How cigarette smoke changes MRSA

Not all strains reacted in the same way to cigarette smoke, but some became more resistant to the antibiotic rifampicin, as well as becoming more invasive, more persistent, and forming more biofilm.

"We expected some effects, but we didn't anticipate smoke would affect drug resistance to this degree," comments Laabei.

The researchers put the findings down to the appearance of so-called small colony variants (SCVs) — a "slow-growing subpopulation of bacteria" that adapt to harsher conditions, making them more challenging for doctors to treat.

Previous research, explain the scientists, has linked SCVs to smoking related chronic infections.

In the new study, the authors note, "Mutational analysis revealed that" cigarette smoke caused SCVs to "emerge via the SOS response DNA mutagenic repair system."

In other words, cigarette smoke stresses *S. aureus*, causing it to react by mutating its DNA at a much faster pace than normal. This causes SCVs to emerge.

"These [SCVs] are highly adhesive, invasive, and persistent," explains Laabei. "They can sit around for a long time, are difficult to kick out, and are linked to chronic infections."

"We hope that our work provides another reason for people not to smoke and for current smokers to quit."

Maisem Laabei

"We recognize that exposure in a lab is different to inhaled smoke over a long time," continues the lead researcher, "but it seems reasonable to hypothesize, based on our research and others' that stressful conditions imposed by smoking induce responses in microbial cells leading to adaptation to harsh conditions, with the net effect of increasing virulence and/or potential for infection."

"Smoking is the leading cause of preventable death worldwide, and cigarette smoke has over 4,800 compounds within it," emphasizes Laabei.

Cancer

Cancer and nutrition research: How best to move it forward (Medical News Today:20190802)

<https://www.medicalnewstoday.com/articles/325927.php>

In the past few decades, a number of studies have suggested a link between dietary habits and the development of cancer. However, much of this research has been unable to move beyond observing links. Now, specialists in cancer and nutrition suggest a way forward.

At a recent conference, specialists discussed ways of taking cancer and nutrition research forward.

For decades now, researchers have been finding links between unhealthy dietary habits and the risk of cancer development and recurrence.

However, they have not yet proved beyond a doubt that all of these links are causal.

At the same time, past findings have been convincing enough to prompt researchers to investigate these connections further.

Diet is key point of discussion in cancer prevention, as it is a modifiable factor; well-informed people can make different choices when it comes to what and how they eat, which could make a real difference to their health.

Studies from the United Kingdom have found that "nearly 4 in 10" cancer cases are preventable, as modifiable risk factors drive them.

For these reasons, specialists across many disciplines — including cancer and nutrition research — came together in December last year to discuss the interplay between diet and cancer risk.

The inaugural international Cancer Prevention and Nutrition Conference took place in London, U.K., under the auspices of Ludwig Cancer Research and Cancer Research UK.

The main points the researchers discussed during this conference now appear in the journal BMC Medicine.

Old challenges vs. new methods

"While data clearly show that obesity is a major risk factor for cancer," says Bob Strausberg, deputy scientific director of the Ludwig Institute for Cancer Research, "we still have a lot to learn about how diet, physical activity, and other metabolic factors impact cancer development."

"In bringing together the most prominent experts in the field across institutions, disciplines and continents, we have worked to identify these research gaps and clarify the role of nutrition in cancer prevention," he says.

One problem that the researchers discussed at the conference was the challenges that appear in understanding whether or not nutrition directly impacts the risk of cancer and the success of the treatment.

How does diet impact breast cancer risk?

Research explores how dietary choices might influence the risk of breast cancer.

"The complexity of the metabolic factors modulated by diet and physical activity may be a contributing factor for the lack of support for several prominent food and cancer hypotheses in large prospective studies," explain Prof. Walter Willett, from the Harvard T.H. Chan School of Public Health in Boston, MA, and Elio Riboli, chair in cancer epidemiology and prevention at Imperial College London in the U.K.

"The current nutrition and cancer evidence base is largely observational and prone to confounding, and long term diet [information] is difficult to assess," add Prof. Richard Martin, from the University of Bristol, U.K., and Prof. Edward Giovannucci, from the Harvard T.H. Chan School of Public Health.

Yet from the different panels, it also emerged that there may now be ways to surpass these challenges. For example, conference participants argued that they can now use new analytical methods and new means of understanding how molecular factors might influence the development of cancer.

These include such innovative methods as epigenomics, transcriptomics, metabolomics, and proteomics.

"With improved mechanisms to share data, enhanced collaboration across continents, and cross-pollination increasing among traditional [isolated fields] — the links between nutrition and cancer prevention research are potentially more understandable and actionable," writes Fiona Reddington, head of population, prevention, and behavioral research funding at Cancer Research UK.

Interdisciplinarity is the way forward

At the conference, specialists also explained that funding bodies must invest more not only in research for better cancer treatments, but also in research surrounding potential risk factors — such as aspects of nutrition and methods of cancer prevention.

"Resources are reluctantly applied to prevention, let alone early life factors that are decades removed from cancer occurrence," explain Prof. Karin Michels, from the University of California, Los Angeles, and Prof. Robert Waterland, from the Baylor College of Medicine in Houston, TX.

"We hope our pressing call to action will be heard," they add.

All the researchers involved with the conference argue that it is very important to find ways of using cancer and nutrition research to form better policies and guidelines that will make a real difference to people's lives.

To this purpose, they note that scientists must work closely with national policymakers and healthcare professionals to promote healthful, nutritious food over options that are less likely to support well-being.

"Research to inform the development of policies and interventions to improve the food environment and prioritize cancer and other noncommunicable disease prevention requires interdisciplinary collaborations," write Prof. Linda Bauld, from the University of Edinburgh in the U.K., and professor emerita Hilary Powers, from the University of Sheffield, also in the U.K.

Indeed, according to Strausberg and Reddington, the need for interdisciplinary approaches when it comes to delving further into the links between cancer and nutrition was a main takeaway of the inaugural conference. They conclude:

"Interdisciplinary research, incorporating disciplines such as business and marketing, political science, environmental sciences, geography, data and systems sciences, as well as simulation modeling, offers great promise."

Cancer: These 4 genes help predict outcome (Medical News Today:20190802)

<https://www.medicalnewstoday.com/articles/325930.php>

Extensive research into the role of the tumor suppressor p53 offers a greater understanding of the genetic mutations that are at play in various forms of cancer, as well as identifying four genes that may help predict a person's outlook.

The overexpression of four genes can help predict the outcome of cancers that have a p53 mutation, new research finds.

The TP53 gene is responsible for encoding what scientists call tumor protein p53 — a tumor suppressor that can stop cells from dividing and proliferating too fast.

Researchers have dubbed TP53 the "guardian of the genome" because of its crucial role in preventing tumors and keeping cellular division in check.

Human cancers frequently feature mutations in the TP53 gene, causing one of the critical defensive mechanisms against cancer to fail.

The first studies that identified TP53 mutations in human cancers appeared in the 1980s and, since then, researchers have dedicated a great deal of time and resources into clarifying its role in cancer.

Now, the largest study of its kind uses tumor samples from over 10,000 cancer patients and looks at 32 different types of cancer to better understand the role of TP53.

Dr. Larry Donehower, a professor of molecular virology and microbiology at the Baylor College of Medicine in Houston, TX, led the new research, which appears in the journal *Cell Reports*.

Telltale 4 genes can help predict outlook

Dr. Donehower and team used five different data platforms to extract 10,225 samples from 32 cancers. Using The Cancer Genome Atlas (TCGA), the researchers were able to comprehensively assess the role of the p53 pathway in these 32 cancers.

Dr. Donehower and colleagues then compared the TCGA data with another database of 80,000 genetic mutations that Dr. Thierry Soussi — a professor of molecular biology at Sorbonne University in Paris, France — had assembled over a period of 30 years.

Which cancers receive the least funding, and why?

New research finds that cancers that people associate with stigmatized behavior receive less funding.

The researchers found that TP53 mutations occurred more often in people who had a poorer outlook. Furthermore, the analysis found that "More than 91% of cancers with TP53 mutations show loss of both functional TP53 alleles," or gene variants.

Dr. Donehower explains: "In some cancer genes, you'll see one copy of the two genes lost or mutated," but "over 91 percent of all cancers lose both TP53 genes, not just one."

The second allele loss, write the authors, occurred by "mutation, chromosomal deletion, or copy-neutral loss of heterozygosity" — that is, gene duplication. The lead researcher also notes that this last process occurred much more frequently than they previously believed.

Importantly, the research also identified four genes that were showing overexpression in mutant TP53 tumors. According to the researchers, these four genes can "tell" if a cancer patient has a good outlook or not.

"If you have a high expression of those four genes, you have a patient who's more likely to have a bad prognosis [...] Conversely, if that patient has a very low expression of those genes, he's probably going to survive longer and have a good prognosis."

Dr. Larry Donehower

"It will give you a better picture of how he'll fare than just knowing whether he's mutant for TP53 or not," continues Dr. Donehower.

Finally, the study strongly associated TP53 mutations with genomic instability, a finding that is in line with TP53's typical role as the "guardian of the genome."

Dr. Donehower comments on the uniqueness of the new research, saying, "Most studies on TP53 focus on one cancer type."

"Looking at 32 different cancer types, you see that certain patterns hold up regardless of cancer type."

Study co-author and director of Cancer Genomics at Baylor College of Medicine, Dr. David Wheeler, also comments on the significance of the findings.

He says: "Since TP53 is one of the most important gatekeepers in cancer prevention, the better we understand this gene, the better able we will be to understand the basic biology of cancer. That will lead to better therapies."